卐 अथ द्वितीयः प्रश्नः 卐

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतरे एतत् प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥१॥

कबन्धी ऋषि के अनन्तर पिप्पलाद महर्षिजी से भृगु गोत्रीय विदर्भ के पुत्र ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ? कितने देवता प्रजा को धारण करते हैं और धारक देवताओं में से कौन इस शरीर के कार्य को प्रकाशित करते हैं एवं इन सभी देवों में कौन वरिष्ठ श्रेष्ठ है यह मेरी जिज्ञासा है ॥१॥

प्रजापतिशब्दितस्य परमात्मनः श्रीरामस्य स्रष्टृत्वं प्रथमप्रश्नप्रतिवचनाभ्यां निश्चित्य स्थितिकारणत्व निर्णयाय द्वितीयः प्रश्न उपस्थाप्यते । अथ कबन्धि प्रश्नानन्तरमाह ह निश्चयेन । एनं पिप्पलादं वैदर्भिर्विदर्भस्यापत्यभूतो भार्गवगोत्र ऋषिः पप्रच्छ पृष्टवान् । प्रश्नस्वरूपमाह-हे भगवन् पूज्यपिप्पलाद कति किं संख्याका एव देवाः प्रजां शरीरस्वरूपां विधारयन्ते विशेषेण धारयन्ति येनैतच्छरीरं न पतति । शरीरञ्च स्थावरजङ्गमोभयात्मकमिहाभिप्रेतम् । कतरे देवा एतद् धारणलक्षणं प्रकाशयन्ते मत्कृतमेवेदं शरीरधारणमिति के जनेषु ख्यापयन्ति । एषां शरीरधारणं कुर्वतां

मत्कृतमेवेदं धारणमित्येवं स्वमाहात्म्यं ख्यापयताञ्च मध्ये कः कतमो देवो वरिष्ठः श्रेष्ठ इति । अत्र देवशब्दे नाग्रिममन्त्रोक्ता आकाशादय एव विवक्षितास्तेषां चाचेतनत्वात् कथं देवशब्देनाभिधानमितिचेदाकाशाद्यभिमानिदेवताविशेषग्रहणाय देवशब्देनोक्तिरिति गृहाण । वक्ष्यमाणाभिवदनादिव्यवहारस्य चैतन्यं विनाऽसम्भवित्वेन चैतन्यसंभावनाया उपयुक्ताया देव शब्देन कथने सुलभत्वमितिभावः ॥१॥

प्रजापति शब्द से बोधित जो परमात्मा भगवान् श्रीरामजी हैं उनमें जगत् सर्जकता है इस बात को प्रथम प्रश्न तथा उसके उत्तर द्वारा निश्चित करके वही परमात्मा श्रीराम जिस तरह जगत् की उत्पत्ति के कारण हैं उसी तरह जगत् की स्थिति के भी कारण परमात्मा ही हैं इस विषय का निर्णय करने के लिये द्वितीय प्रश्न को उपस्थित करते हैं-**'अथ हैनमित्यादि'** अथ कबन्धी प्रश्न के बाद में ह शब्द निश्चयार्थक है। इन पिप्पलाद ऋषि जी को विदर्भि विदर्भ नामक ऋषि का अपत्य भार्गव गोत्रवाला ऋषि ने पूछा । प्रश्न के स्वरूप को बतलाते हैं-हे भगवन् पूज्य पिप्पलाद ऋषिजी ? कितने देवगण प्रजा शरीर को धारण करते हैं विशेष रूपसे धारण करते हैं जिससे यह शरीर पतित नहीं होता है अर्थात्

गिरता नहीं है। यहां शरीर स्थावरजङ्गम उभय साधारण अभिप्रेत है और कितने देव धारित इस शरीर को प्रकाशित करते हैं अर्थात् मैं ही इस शरीर को धारण करता हूँ, इसप्रकार से लोक में ख्यापित करते हैं। इन शरीर धारण करनेवालों के हम से यह शरीर धारित है एतादृश स्वकीय माहात्म्य को ख्यापन करनेवालों के मध्य में कौन देव सर्वश्रेष्ठ हैं ? यहां देव शब्द से अग्रिम मन्त्र में प्रतिपादित आकाशादिक का ही विवक्षण है। यद्यपि आकाशादिक तो अचेतन हैं उनमें चेतन वाचक देव शब्द का प्रयोग उचित नहीं है तथापि देव शब्द से आकाशाद्यभिमानी देवों का ग्रहण होता है ऐसा जानना चाहिये। आगे इन सब में बोलना विवादादिक कार्य को बतलायेंगे तो वदनादि व्यवहार चैतन्य के बिना असंभव है इसलिये चैतन्य संभावना जो कि उपयुक्त है उसका देव शब्द से कथन करने में सुलभता होती है १

तस्मै स होवाच आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयाम इति ॥२॥

उन प्रसिद्ध पिप्पलाद महर्षि ने वैदर्भि से कहा प्रसिद्ध यह आकाश ही देवता है एवं वायु अग्नि जल तथा पृथिवी और वाणी

आदि कर्मेन्द्रिय तथा नेत्र कान आदि ज्ञानेन्द्रिय एवं मन भी देवता है वे आकाशादिक सभी शरीर को प्रकाशित कर अहंकार के साथ कहने लगे कि बाण के समान गमनशील हमसब प्रत्यक्ष दिखाइ देता इस शरीर को सभी ओर से व्याप्त कर विधारण क्रते हैं ॥२॥

आख्यायिकामवतारयति पृष्टवस्तुनिर्णयाय । सः पिप्पलादस्तस्मै पूर्वोक्तप्रकारेण प्रश्नकर्त्रे वैदर्भाय उवाच । एष देव आकाशो वायुरग्निरापः पृथिवीत्येतानि महाभूतानि शरीरारम्भकारीणि । एते कार्यलक्षणा देवा वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं चेत्यत्र वाक् पदेन कर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि सर्वाण्युपलक्ष्यन्ते । मनः पदमन्तरिन्द्रियस्योपलक्षकम् । चक्षुः श्रोत्रपदे तु ज्ञानेन्द्रियाणामुपलक्षके तेन बाह्येन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियरूपं मन इत्यन्तरिन्द्रियं च करणलक्षणा देवाः । ते सर्वे प्रकाश्य मत्कृतमेवेदं शरीरधारणमिति लोकविदितं यथा स्यात्तथा प्रख्याप्याभिवदन्ति । अभितः कथयन्ति-किमित्यत्राह-एतद्बाणं बाणवत्संचरणशीलतया बाणत्वोपचाराच्छरीरमेव बाणमुक्तम् । शरीरमवष्टभ्य यथा न पतति तथा दृढतया गृहीत्वा विधारयामो विशेषेण धारयामः । अवकाशदानादिविविधकार्यक्षममिदं भवति येन प्रकारेण तेन प्रकारेण धारयाम इतिभावः ॥२॥

पूछा हुआ जो पदार्थ उसका उत्तर देने के लिये एक आख्यायिका बतलाते हैं-**'तस्मै सहोवाच'** इत्यादि। वह पिप्पलाद मुनिजी पूर्वोक्त प्रकार से प्रश्न करनेवाले वैदर्भी के प्रति बोले-ये देव आकाश वायु अग्नि जल और पृथिवी ये सब महाभूत मिलकर शरीर को बनाते हैं। ये कार्यलक्षण देव वाणी मन चक्षु और श्रोत्र, यहां वाक् पद से कर्मेन्द्रिय हस्तपादादिक सब उपलक्षित होते हैं और मन पद आन्तर इन्द्रियों का उपलक्षक है। चक्षु श्रोत्र ये दोनों ज्ञानेन्द्रिय के उपलक्षक हैं। बाह्येन्द्रिय ज्ञान कर्म उभयरूप तथा मन यह आन्तर इन्द्रिय ये सब कारण लक्षणदेव हैं। ये सब देव प्रकाश्य अर्थात् हम से ही शरीर धारण लक्षण कार्य होता है इसप्रकार लोक में प्रख्यापित करके कहते हैं, क्या कहते हैं इस जिज्ञासा में श्रुति कहती है-**'वयमेतदित्यादि'** इस बाण को बाण के समान संचरणशील होने से उपचार से शरीर को ही बाण शब्द से कथन किया गया है। शरीर को अवष्टब्ध करके गिरे नहीं उस तरह से दृढतया ग्रहण करके विशेष रूपसे धारण करते हैं। अवकाशादि अनेक प्रकारक कार्य करने में दक्ष होता है उस प्रकार से धारण करते हैं ॥२॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथा

हमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं विभज्यैतद्बाणमव ष्टभ्य विधारयामीति । तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ३

सवों में श्रेष्ठ प्राण ने उन सभी देवों को कहा तुमसब मोह को प्राप्त मत करो मैं ही इस आत्मा को प्राण अपान व्यान समान तथा उदान भेद से पांच भागों में विभाजित होकर बाण जैसा संचरणशील इस शरीर को व्याप्तकर धारण करता हूँ । प्राण के इस कथन में सभी आकाशादि देवों ने विश्वास नहीं किये ॥३॥

एवं बाणविधारणाभिमानमवलोक्य वरिष्ठो मुख्यो जीवनविधारक इत्येतत् । प्राणः प्राणवायुस्तान् पूर्वोक्ताभिमानविशिष्टनमुख्यान् प्रणानुवाचोक्तवान् । किमुक्तवानित्यभिधत्ते मा मोहमापद्यथ । हे आकाशप्रभृतयः प्राणाः मोहमविवेकं तज्जन्यमभिमानं वा वयमेव शरीरविधारका इत्याकारकं माऽऽपद्यथ मा प्राप्नुत यस्माद्धेतोरहं मुख्यः प्राण एवात्मानं स्वरूपं पञ्चधा पञ्चप्रकारेण प्राणापानादिवृत्तिभेदप्रयुक्तप्राणापानोदानव्यानसमानरूपेण विभज्य प्रकल्प्यैतद् दृश्यमानं बाणं शरीरमवष्टभ्य दृढं गृहीत्वा विधारयामीति । भवतामपि कार्यमवकाशप्रदानादिमदभावे नोपपद्येतातोहमेवैतद्विधारक इत्यभिप्रायः । ते आकाशादयोऽश्रद्दधाना बभूवुर्मुख्यप्राणवाक्ये विश्वासयुक्ता न जाताः । अयमेव विधारयति कथमेवं भवेदिति संशयाना

एवासन्निति भावः ॥३॥

'तान्वरिष्ठ' इत्यादि । इसप्रकार शरीर का विधारण करने के अभिमान् को देखकर मुख्य जीवन विधारक जो प्राण अर्थात् प्राण वायु उन पूर्वोक्त अभिमान विशिष्ट अमुख्य प्राणों से बोला । मुख्यप्राण ने अमुख्य प्राणों से क्या कहा उसे बतलाते हैं । **'मा मोह मापद्यथ'** इति । हे आकाश प्रभृति प्राण ? मोह अविवेक अथवा अविवेक जनित मैं ही शरीर का विधारक हूँ, इत्याकारक अभिमान को मत प्राप्त करो । जिसलिये मैं मुख्यप्राण ही अपने स्वरूप को पांच प्रकार से अर्थात् प्राणापानादि वृत्तिभेद से प्राण अपान उदान समान और व्यानरूप से विभाग करके परिदृश्यमान बाण इस शरीर को दृढीकृत करके धारण करता हूँ । अर्थात् आपलोगों का जो कार्य है अवकाशादि प्रदानरूप भी मेरे मुख्य प्राण के अभाव में नहीं हो सकता है इसलिये मैं ही शरीर का धारक हूँ। इसप्रकार मुख्य प्राण की बात सुनकर के मुख्यप्राण की बातों में श्रद्धा नहीं की । अर्थात् अविश्वासयुक्त हो गये । यही शरीर को धारण करता है हमलोग धारण क्यों नहीं करते इसप्रकार संशययुक्त अमुख्य सभी प्राण हो गये ॥३॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव । तस्मिन्नुत्

क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते । तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥४॥

अन्य देवों के अभिमान का अनुभवकर वह मुख्यप्राण स्वशक्ति प्रदर्शन हेतु अपने स्थानों से ऊपर की ओर चलने लगा उस मुख्यप्राण के उत्क्रमण करने पर तो उसी मुख्यप्राण के साथ-साथ अन्य वाणी प्रभृति सभी देववर्ग भी देह से वाहर निकलने लगे । पर उस मुख्यप्राण के शरीर में ही स्थित रहने पर वे सभी वागादि देव देह में ही स्थिर रहते हैं जैसे मधुमक्षिका के राजा के मधु के छत्ते से उडजाने पर सभी मधुमक्षिकाएं उड जाती हैं एवं मधुमक्षिका के राजा के स्थिर होने पर सभी मधुमक्षिकाएं बैठ जाते हैं । वैसे ही वाणी आदि कर्मेन्द्रिय तथा मन अन्तःकरण एवं नेत्र और कान आदि ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति हुई अतः वे सभी वागादि देववर्ग मुख्यप्राण की प्रबलता का आकलन कर उसकी स्तुति करने लगे ॥४॥

सः मुख्यः प्राणः आकाशादीनां विश्वासरहिततां विज्ञाय अभिमानान्मत्सान्निध्याधीनव्यापारा अप्येते मद्वाक्येऽश्रद्दधाना भवन्ति ततः पश्यन्तु मदभावे स्वकीयां गतिमित्येवं विधादहङ्कारादूर्ध्वं शरीरोर्ध्वभाग उत्क्रमत इव उत्क्रमणमिव कृतवान् किञ्चिदुद्गतो

अभूत् । इव शब्दस्याल्पत्वद्योतकत्वम् । तस्मिन् मुख्य प्राण उत्क्रामति स्वस्थानात् किञ्चिदुच्चलिते सति, अथ मुख्यप्राणोत्क्रमणानन्तरमेवेतरे चक्षुरादयः प्राणाः सर्व ऐवोत्क्रामन्त उत्क्रान्ता अभवन् स्वस्वस्थानादुच्च लिता जाता इत्येतत् । तस्मिन् मुख्यप्राणे शरीरविनि पातो मा भवत्वित्याशयेन पुनः प्रतिष्ठमाने स्वस्थाने प्रतिष्ठां गते स्थितिं लभमान इति यावत् । सर्व एव चक्षुरादयः प्राणाः प्रतिष्ठन्ते स्वस्वस्थाने प्रतिष्ठां गता अभूवन् । अत्रार्थे सुखेनावगमाय दृष्टान्तं दर्शयति तद्येति । तत् तत्र यथालोके मक्षिका मधुकर्यः क्षुद्रजन्तुविशेषाः सर्वा एव संघीभूताः सत्यो मधुकरराजानं मक्षिकासु सर्वश्रेष्ठमक्षिकाविशेषमुत्क्रामन्तमेकस्मात् स्थानात् स्थानान्तरं गन्तुमुड्डीयमानमनूत्क्रामन्त उड्डीयन्ते तस्मिन् मधुकरराजे प्रतिष्ठमाने क्वचित् स्थान विशेषे स्थितिं लभमाने सति सर्वा एव मक्षिकास्तत्रैव प्रतिष्ठन्ते स्थिताः भवन्ति । एवमनेनैव प्रकारेण वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च वाक् चक्षुः मनः श्रोत्रप्रभृतयः सर्वेऽपि प्राणाः मुख्यप्राणस्यानुगामिनो बभूवुरित्यर्थः । ते वाङ्मनः प्रभृतयः प्राणाः मुख्यप्राणसामर्थ्यदर्शनेन गताभिमाना अत एव प्रीताः प्रसन्नाः सन्तः प्राणं मुख्यप्राणं स्तुवन्ति स्तुवन्तिस्म ॥४॥

'सोऽभिमानादित्यादि' वह मुख्यप्राण ये आकाशादिक देव मेरे वचन में श्रद्धारहित हैं ऐसा जान करके अभिमान से अर्थात् मेरे व्यापाराधीन व्यापारवान् हो करके भी ये लोग मेरे वाक्य में श्रद्धारहित हो गये हैं तो ये लोग देखें मेरे व्यापार के अभाव में अपनी गति को एतादृश अहंकार से युक्त हो करके उस मुख्यप्राण ने शरीर के ऊपर भाग से उत्क्रमण किया अर्थात् शरीर से निकलते हुए के समान हुआ अर्थात् थोडा शरीर से निकल पडा । यहां इव शब्द अल्पार्थ का द्योतक है । उस मुख्यप्राण के अपने स्थान से थोडा निकलने पर इसके बाद अर्थात् मुख्यप्राण के उत्क्रमण के अनन्तर में ही इतर चक्षुरादिक सब प्राण उत्क्रमित हो गये अर्थात् अपने अपने स्थान से उद्गत होने लगे । वह मुख्यप्राण मेरे अभाव में शरीर का पतन हो जायगा इस अभिप्राय से स्वस्थान में जब पुनः स्थित हो गया तब सब इतर चक्षुरादिक प्राण अपने अपने स्थान पर पुनः आकर के प्रतिष्ठित हो गये । इस विषय का सुखपूर्वक ज्ञान हो इसलिये अनुरूप दृष्टान्त बतलाते हैं-**'तद्यथा'** इत्यादि । जिसप्रकार इस लोक इसलोक में क्षुद्र जन्तु विशेष मधुमक्षिका सब संघरूप हो करके मधुकर राजा मक्षिकाओं में सर्वश्रेष्ठ उसके उत्क्रान्त होने पर अर्थात् एक

स्थानान्तर में जाने पर सभी मक्षिकायें उड जाती हैं और वह मधुकरों का राजा जब जिस स्थान पर प्रतिष्ठित होता है अर्थात् बैठ जाता है उसी स्थान पर सभी मक्षिकाएं संघीभूत होकर के बैठ जाती हैं । इसीप्रकार से वाणी मन चक्षु श्रोत्र प्रभृतिक सब प्राण मुख्यप्राण के अनुगामी होते हैं । इसप्रकार मुख्यप्राण के प्रभाव को देखकर वाक् प्रभृतिक अमुख्यप्राण सब अपने अपने अभिमान को छोडकर के मुख्यप्राण की स्तुति करने में संलग्न हो गये अर्थात् मुख्यप्राण की प्रशंसा करने लगे ४

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः । एष पृथिवीरयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥

यह मुख्यप्राण अग्नि के रूपमें तपता है यही मुख्यप्राण सूर्य के स्वरूप से प्रकाश फैलाता है एवं यही मेघ के रूपमें बरसता है और यही इन्द्र के स्वरूप से जर्म पोषण तथा असुरों का संहार करता है तथैव यही प्राण वायु के रूप से संचलन करता है तो यही पृथिवी के स्वरूप से सव संसार का धारण करता है यही मुख्यप्राण देवता चन्द्रमा के रूपसे सभी का पोषण करता है तथा जो कुछ सत् पदार्थ या असत् पदार्थ है या अमृत पदार्थ है वह सब मुख्यप्राण ही है ॥५॥

स्तुतिप्रकारमाह-एषोऽग्निरित्यादि । **एषः मुख्यप्राण एवाग्निरग्निरूपः सन् तपति ज्वलति । एष**

मुख्यप्राण एव सूर्यः सूर्यस्वरूपेण प्रकाशत इत्यर्थः । एष पर्जन्यः पर्जन्यरूपेण वृष्टिं करोति । एष मुख्य प्राण एव मघवानिन्द्रः इन्द्रस्वरूपेण त्रैलोक्यं पालयति, असुररक्षःपिशाचादिभयं निवर्तयति च । एष मुख्यप्राण एव पृथिवी विश्वस्य धारिणी पृथ्वीस्वरूपेण सर्वं जगद् धारयतीत्यर्थः । एष एव रयिर्देवश्चन्द्रः सन्-सर्वं पोषयति । एष एव सन्मूर्तिमत् स्थूलम्, यच्चासदमूर्त्तं सूक्ष्ममित्येतत् तदपि एष एव मुख्यः प्राणः । यच्चामृतममृतत्वापादकं पीयूषं तदपि एष एव । यद्वामृतमिति भावप्रधानो निर्देशः । तेन अमृतत्वं मुक्तिः तदपि एष एव मुख्यप्राणः । अग्न्यादीनां सर्वेषां प्राणाधीनस्थितिमत्वात् सामानाधिकरण्यम् ॥५॥

इतर प्राण मुख्यप्राण की स्तुति करते हैं तादृश स्तुति के प्रकार को बतलाते हैं-**'एषोऽग्निरित्यादि'** यह मुख्यप्राण अग्नि स्वरूप हो करके तापित होता है अर्थात् ज्वलन क्रिया का संपादन करता है । यही मुख्यप्राण सूर्यस्वरूप से प्रकाश क्रिया का संपादन करता है । यह मुख्यप्राण पर्जन्य है अर्थात् मेघस्वरूप हो करके वृष्टि देनेवाला होता है । यही मुख्यप्राण मघवा इन्द्र है अर्तात् इन्द्र स्वरूप से त्रैलोक्य का पालन करता है असुर

राक्षस तथा पिशाचादि भय से रक्षण करता है। यही मुख्यप्राण पृथिवी है विश्व को धारण करनेवाला है अर्थात् यह मुख्यप्राण पृथिवीरूप संपूर्ण जगत् को धारण करता है। और यही प्राण रयि चन्द्रस्वरूप से संपूर्ण जगत् को परिपुष्ट बनाता है। यही मुख्यप्राण मूर्तिमान् स्थूल है। और यह मुख्यप्राण असत् है अर्थात् अमूर्त सूक्ष्मरूप भी है। और यही अमृत है। यद्वा अमृत शब्द भाव प्रधानक है इसलिये अमृतत्व नाम है मोक्ष का तो तादृश मोक्षरूप भी वही मुख्यप्राण है। अग्नि प्रभृतिक सबको प्राणाधीन स्थितिमान सामानाधिकरण्य है ॥५॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं च ब्रह्म च ॥६॥

रथ के पैये के नाभी में अरा यानी छोटे काष्ठ के समान ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद तथा अथर्व वेद के मन्त्रों और यज्ञ तथा ब्राह्मण क्षत्रिय प्रभृति सभी प्राण में ही प्रतिष्ठित हैं ॥६॥

चक्रस्य मध्यभागगतोऽवयवो रथनाभिः। भूमिं स्पृशन् चरमोऽवयवो नेमिस्तयोरन्तरालगतोऽवयवोऽर इत्युच्यते। रथनाभौ चक्रस्य मध्यप्रदेशेऽरा नाभिनेम्यन्तरालवर्तिनश्चक्रावयवा यथा प्रतिष्ठिता भवन्ति नाभि संलग्ना भवन्तीत्येतत्। तथा सर्वमिदं जङ्गमाजङ्गमं

जगत् प्राणे प्रतिष्ठितम् स्थितिकाले प्राण एव स्थितं भवतीत्यर्थः । तथा ऋचः ऋङ्मन्त्राः, यजूंषि यजुर्मन्त्राः, सामनि साममन्त्राः । वेदत्रयीति यावत्, तैस्त्रिस्त्रिप्रकारैर्मन्त्रैः साध्यो यज्ञकर्माधिकारवत् क्षत्रं क्षत्रियजातिर्यत् सर्वंपरिपालयति ब्रह्म ब्राह्मणजातिर्यद् यज्ञादिकर्मत्रयीमन्त्रसाध्यं कारयति । सर्वमिदं प्राण एव एषः । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः' इति कठश्रुतिवदत्रापि ब्रह्मक्षत्रपदे स्थावरजङ्गमसकलप्राणिवर्गस्योपलक्षणे तेन स्थावरजङ्गमरूपं प्राणिजातं यत् तत्सर्वमेव एष प्राण एव । सर्वेषां प्राणाधीनस्थितिमत्त्वादितिभावः ॥६॥

'अरा इवेत्यादि' चक्र के मध्य भाग में रहनेवाला जो अवयव विशेष उसे रथ नाभी कहते हैं । भूमि को स्पर्श करता हुआ जो चरम अन्तिम अवयव उसे नेमी कहते हैं । इन दोनों के मध्यगत जो अवयव उसे अरा कहते हैं । रथनाभी अर्थात् चक्र के मध्य प्रदेश में अरा नाभी तथा नेमी के अन्तराल में रहनेवाला चक्र का अवयव जिसप्रकार प्रतिष्ठित होता है अर्थात् नाभी में संलग्न रहता है । उसीप्रकार से सब जङ्गम स्थावर यह जगत् स्थितिकाल में प्राण में ही स्थित रहता है । इसी तरह ऋक् मन्त्र यजुर्मन्त्र साम मन्त्र अर्थात् तीनों वेद ।

तथा इन तीन प्रकारक मन्त्र द्वारा साध्य यज्ञकर्म क्षत्र क्षत्रिय जाति जो कि सर्वपालक है। ब्रह्म ब्राह्मण जाति जो कि त्रयी मन्त्र साध्य कर्म को करता है, ये सब प्राण ही हैं। जिसतरह-**'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च'** इस कठोपनिषद् मन्त्र में ब्राह्मण क्षत्रपद संपूर्ण जगत् का उपलक्षक है इसीप्रकार प्रकृत में उपलक्षक है। अतः स्थावर जङ्गम सकल प्राणी जो कुछ हैं वे सब इस प्राण के ही स्वरूप हैं क्योंकि ये सब प्राणाधीन स्थितिक हैं ॥६॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणे प्रतितिष्ठसि ॥७॥

हे प्राण ? तुम ही जीव समूहों के रक्षक हो एवं तुम ही वायुरूप से गर्भ में संचरण करते हो तथा तुम ही संस्कार के अनुसार पुत्रादि के रूपसे उत्पन्न होते हो हे प्राण ? तुम्हारे ही शेषरूप ये प्रजागण तुम्हारे हेतु हविष्यादि बलि-उपहार समर्पित करते हैं। तुम ही प्राण प्रभृति व्यापार द्वारा सभी स्थानों में प्रतिष्ठित हो ॥७॥

सम्प्रति मुख्यप्राणं साक्षात्सम्बोध्य स्तोतुमुपक्रमते-हे प्राण! त्वमेव प्रजापतिः प्रजानां रक्षको भवद् गर्भे चरसि प्राणापानादिरूपेण गर्भसञ्चारं करोषि। गर्भपरिपालनायेतिभावः। एवं त्वमेव प्रतिजायसे गर्भोत्पादकतया पितृरूपस्त्वं गर्भपोषकतया मातृस्व

रूपश्च त्वं यद्यपि वर्तस एव तथापि पितृमात्रनुरूपेण पुत्ररूपेणापि त्वमेव भवसीत्यर्थः । यत एवं प्राणैः प्राणापानादिस्वरूपैः प्राणिषु प्रतितिष्ठसि प्रतिष्ठितो भवसि । यद्वा प्राणैश्चक्षुरादिभिः सार्धं सर्वप्राणिशरीरेषु प्रतितिष्ठसि । तस्मै तुभ्यमिमामनुष्यादिरूपाः प्रजाः बलिमन्नपानादिरूपं भोज्यमुपहरन्ति समर्पयन्ति प्रत्यहमत एव भोक्ता रूपोऽसीतिभावः ॥७॥

संप्रति मुख्यप्राण को साक्षात् संबोधन करके स्तुति करने का उपक्रम करते हैं-'**प्रजापतिरित्यादि**' हे मुख्यप्राण ? तुम ही प्रजापति हो अर्थात् प्रजा के रक्षण करनेवाले हो । तुम ही गर्भ में भी चलनेवाले हो अर्थात् प्राणापानादि रूपसे गर्भ में भी संचार करते हो गर्भ का पालन करने के लिये । एवं तुम ही समुत्पन्न होते हो अर्थात् गर्भ के उत्पादक होने से तुम पितारूप हो तथा गर्भ का पोषण करने से तुम मातारूप होकर के यद्यपि सर्वदा तुम वर्तमान हो तथापि माता पिता के अनुरूप पुत्ररूप से भी तुम ही होते हो । जिसलिये ऐसा है अतः प्राणापानादि स्वरूप से सकल प्राणियों में प्रतिष्ठित होते हो । यद्वा प्राण जो चक्षुरादिक करण उन करणों के साथ-साथ सकल प्राणियों के शरीर में तुम प्रतिष्ठित हो। एतादृश गुणगण विशिष्ट तुमको ये मनुष्यादिरूप

प्रजावर्ग बलि अन्नपानादि लक्षण भोज्य वस्तुजात प्रतिदिन तुम्हारे लिये समर्पित करते हैं अत एव तुम भोक्तारूप हो ।।७।।

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ।।८।।

हे प्राण ? देवताओं को हविष्यान्न प्रापक उत्तम स्वाहा रूप अग्नि तुम ही हो एवं पितरों की प्रथम स्वधा भी तुम ही हो और अथर्वाङ्गिरस ऋषियों के सत्य चरित्र भी तुम ही हो ।।८।।

हे प्राण देवानामिन्द्रादीनां वह्नितमो वहति प्रापयति देवेभ्यो हविर्द्रव्यं यः स वह्निरतिशयितो वह्निर्वह्नितमोऽअतिशयेन हविर्द्रव्य प्रापकस्त्वमेवासि । तथा पितृणां मग्निष्वात्तादीनां प्रथमा स्वधा प्राथम्येन देवापेक्षयाऽन्नप्रापिका स्वधा त्वमेव । स्वाहाशब्देन देवा हविः प्राप्नुवन्ति स्वधाशब्देन तु पितरः पिण्डमुपगच्छन्ति देवयागापेक्षया प्रथमं पितृभ्यो नान्दीश्राद्धमवश्यकर्तव्यतया विहितमस्ति । स्वाहापेक्षया स्वधायाः प्राथम्यमुक्तम् । अथर्वाङ्गिरसामथर्वाङ्गिरः प्रभृतीनामृषीणां सत्यमुत्कृष्टं पवित्रत्वात् । चरितमाचारो नित्यनैमितिकक्रियारूपः तदपि त्वमेवासि । त्वयि सत्येव स्वाहास्वधाकारनित्यनैमित्तिककर्माणि सम्भवन्ति ना-

न्यथाऽतस्त्वमेवैतत्सर्वमितिभावः ॥८॥

'देवानामसीत्यादि' हे मुख्यप्राण ? तुम इन्द्रादिक देवों के मध्य में वह्नितम हो देवताओं के लिये हविरादि द्रव्य का जो वहन करे प्राप्त करावे उसे वह्नि और अतिशयित जो वह्नि उसे वह्नितम कहते हैं अर्थात् अतिशयेन देवगण को हविर्द्रव्य का प्रापक तुम ही हो तथा अग्निष्वात्रादि पितरगण की प्रथमा स्वधा अर्थात् देवापेक्षया प्रथमतः अन्न को प्राप्त करानेवाली स्वधा तुम ही हो । स्वाहा शब्द से देवतालोग हविरादि द्रव्य को प्राप्त करते हैं तथा स्वधा शब्द से पितरलोग पिण्ड को प्राप्त करते हैं । देवयाग की अपेक्षा से प्रथमतः पूर्व में पितरों के लिये नान्दीश्राद्ध कर्ममात्र में प्राथम्येन विहित है इसलिये स्वाहापेक्षया स्वधा को प्रथम शब्द से कहा गया है । अथर्वाङ्गिरस प्रभृति ऋषियों के पवित्र होने से सत्य उत्कृष्ट चरित अर्थात् आचार नित्य नैमित्तिक क्रियारूप जो है वह भी तुम ही हो । आपके होने पर ही स्वाहा स्वधाकार नित्यनैमित्तिक कर्म होते हैं तुम्हारे अभाव में नहीं इसलिये तुम ही इन सबके स्वरूप हो ॥८॥

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ।९।

हे प्राण ! तुम इन्द्र-षडैश्वर्यशाली ईश्वर है वह तथा तेज से तुम

ही रुद्र हो तथा परिरक्षणकारक भी तुम ही हो तुम ही अन्तरिक्ष में विचरण करते हो और तुम ही सभी प्रकाशकों का पति सूर्य हो ॥९॥

हे प्राण इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति यः स इन्द्रः परमेश्वरः त्वमसि । तेजसा संहारकतेजोविशेषेणोपलक्षितो रुद्रः सर्वरोदनकारित्वात् त्वमेवासि । स्थितिकाले रक्षणोपयुक्तेन सौम्येन तेजसोपलक्षितः परिरक्षिता विष्णुस्वरूपेण परिपालकस्त्वमेवासि । ज्योतिषां तेजस्विनां पतिस्तेजस्विषु श्रेष्ठः सूर्य आदित्यरूपः सन् त्वमेवान्तरिक्ष आकाशे चरसि भ्रमसि ॥९॥

'इन्द्रस्त्वमित्यादि' हे प्राण ? तुम ही इन्द्र हो परमैश्वर्यवान् जो हो उसे इन्द्र कहते हैं इदि ऐश्वर्यधातु से इन्द्र पद सिद्ध होता है इसलिये सर्वातिशायी ऐश्वर्यवान् तुम हो । सर्वसंहारकारक तेज से युक्त रुद्र तुम ही हो सबको रुलावे जो उसे रुद्र कहते हैं स्थितिकाल में रक्षण करने में उपयुक्त सौम्य तेज से युक्त होकर विष्णु रूपसे सबको रक्षण करनेवाले तुम ही हो । ज्योतिष् तेजस्वियों का पति अर्थात् तेजस्वियों में श्रेष्ठ सूर्य आदित्यरूप होकर के तुम ही अन्तरिक्ष आकाश में भ्रमण करते हो ॥९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति १०

हे प्राण ? जब तुम मेघ स्वरूप से पर्याप्त बरसते हो तब तेरी सभी प्रजायें यथेच्छ अन्न होगा ऐसा विचार कर आनन्द का अनुभव कर स्थित हो जाती हैं ॥१०॥

हे प्राण यदा प्रावृट्काले त्वं पर्जन्यरूपः सन्नभि वर्षसि अभितो जलवृष्टिं करोषि तदा ते त्वदीया इमाः प्रजा आनन्दरूपा आनन्दप्रचुरा आनन्दंरूपयन्तीत्या-नन्दरूपा आनन्दं मन्यमाना इति वा तिष्ठन्ति, आसा मानन्दे हेतुं प्रथयति कामायान्नं भविष्यतीति कामाय अभिलषितसिद्धयेऽन्नं पर्याप्तं भविष्यति यतो प्रभूता वृष्टिर्जातेत्याशावन्त इत्यर्थः । प्रभूतान्नसंभावनाजन्य आनन्दस्तासां भवतीतिभावः ॥१०॥

'**यदात्वमित्यादि**' हे प्राण ? जब प्रावृट् काल में चतुर्मासों में तुम पर्जन्य मेघरूप होकर के चारों तरफ वर्षा करते हो तब भवत्सम्बन्धी परिदृश्यमान ये सभी प्रजा आनन्दरूप होकर के अथवा अपने को आनन्दवान् समझ करके रहते हैं। इन प्रजाओं को आनन्द होने में कारण बतलाते हैं-'**कामायेत्यादि**' अभिलषित वस्तु की सिद्धि के लिये पर्याप्त अन्न होगा क्योंकि बडी अच्छी वृष्टि हुई है इसप्रकार से प्रत्येक मनुष्य आशावान् होते हैं। अर्थात् पर्याप्त अन्न की संभावना से जायमान आनन्द प्रजावर्ग में होता है ॥१०॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ।११।

हे प्राण ? तुम वेद विहीत संस्कार रहित होने से व्रात्य होकर भी मन्त्रद्रष्टा प्रधान ऋषि हो एवं तुम ही विश्व का संहर्ता हो तो सन्तों का संरक्षक भी तुम ही हो हम सब सभी भोज्य पदार्थों के तुम्हारे हेतु आहरण करने वाले सेवक हैं हे मातरिश्वन् ? वायुदेव तुम हमलोगों का पालक पिता हो ॥११॥

हे प्राण व्रात्यः श्रुतिनियमितकालावधिकसंस्कार रहितो विप्रादिस्त्वमेव । आषोडशवर्षात् सावित्रीग्रहणं न चेत् स्यात्तदा स ब्राह्मणो व्रात्य इत्युच्यते, तथा क्षत्रि यवैश्ययोरपि सावित्रीग्रहणकालातिक्रमे व्रात्यता भवतीति धेयम् । एकोऽद्वितीय ऋषिर्मन्त्रार्थद्रष्टाऽपि त्वमेव । उच्चावचप्राणिजातं त्वमसीतिभावः । विश्वस्यात्ता संहारकारकोऽपि त्वमसि तथा सत्पतिः सतां साधूनां पतिः पालकोऽपि त्वमेवासि । वयं चक्षुरादयः प्राणाः ते तुभ्यमाद्यस्य अदनीयस्यान्नपानादेर्दातारः समर्पकाः किंकरा इव भवामः । हे मातरिश्व त्वं नोऽस्माकं पिता परिपालकोऽसि । मातरिश्वन् शब्दे नकारस्य लोपः छान्दसः ॥११॥

'व्रात्यस्त्वमित्यादि' हे प्राण ? तुम व्रात्य हो श्रुति में नियमित जो कालावधिक संस्कार से रहित व्रात्य तुम

हो। सोलह वर्ष पर्यन्त में सावित्री प्रदान न हो तो वह ब्राह्मण व्रात्य कहलाता है। इसीतरह क्षत्रिय वैश्य का भी संस्कार काल का अतिक्रमण हो जाने पर व्रात्यता होती है। इस विषय में मनुस्मृति में कहा है-

'आषोडशाद् ब्राह्मस्य सावित्री नाति वर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशते विशः ॥
अतऊर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्री पतिता व्रात्या भवन्त्यार्य विगर्हिताः ॥'

प्राण को जो कहा है कि तुम व्रात्य हो इसका अभिप्राय यह है कि यदि प्राण से पूर्वकाल कर्त्री पिता प्रभृति कोई होता तो प्राण का नियमपूर्वक उपनयनादि संस्कार किया जाता परन्तु प्राण से पूर्ववर्ती कोई नहीं प्राण ही सर्वापेक्षया पूर्वकालिक है। इससे किसी के पूर्वकालिक नहीं होने से संस्काराभाव तथा संस्काराभाव से व्रात्य दोष हुआ है। इस व्रात्यता का कथन यद्यपि निन्दा है परन्तु यहां निन्दा को ही प्रशंसा समझना चाहिये। यहां व्रात्यता कथन सर्वाग्रजन्यत्व को बतलाता है। हे प्राण? तुम एक अद्वितीय मन्त्रार्थ के द्रष्टा हो। अथवा सर्वदा अकेला ही जो चले उसे एकर्षि कहते हैं एतादृश एकर्षि तुम ही हो। तथा तुम विश्व के अत्ता हो अर्थात्-प्रलय काल में सबके संहारक तुम भी हो। तथा

तुम सत्पति हो अर्थात् सज्जन पुरुषों के रक्षण करनेवाले तुम ही हो। हम चक्षुरादिक प्राण तुमको आद्य अदनीय अन्नपानादिक को देनेवाले समर्पण करनेवाले किंकर के समान होते हैं। हे मातरिश्वन् प्राण ? तुम हमलोगों के पिता पालन करनेवाले हो। मातरिश्वन् शब्द है इसमें छान्दसत्वात् नकार का लोप हो गया है ॥११॥

या च ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या च मनसि सन्ततां शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥

हे प्राणदेव ? जो तेरी मूर्ति वाणी में प्रतिष्ठित है तथा जो कान में स्थित है और जो नेत्र में प्रतिष्ठित है एवं जो मन में संस्थित है उस सर्वदा संस्थित मूर्ति को कल्याणमय बनाओ पर यहां से उत्क्रमण मत करो यानी हमें छोडकर मत जाओ ॥१२॥

या च ते त्वदीया तनूरपानरूपा वाचि वागिन्द्रिये प्रतिष्ठिता वर्तमानाऽस्ति, या च तनुर्व्यानरूपा श्रोत्रे श्रोत्रेन्द्रिये प्रतिष्ठिता, या च प्राणरूपा तनुश्चक्षुषि प्रतिष्ठिता, या च समानरूपा मनसि प्रतिष्ठिता, स प्राणस्तच्चक्षुः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं सोऽपानः सा वाक् स समानस्तन्मन इतिश्रुतेः यागादिषु प्राणेषु मुख्यप्राणस्य तथैव नियमनशक्तेः सकाशाद् वक्तृत्वादिकमस्तीति भावः। संततां समनुगतां तां तनुं शिवां कुरु,

त्वत्तनुसन्निधानेनैव वागादीनां स्वस्यव्यापारप्रवणता रूपं शिवत्वमस्ति, अन्यथा स्वस्वव्यापाराऽसमर्थतया वागादयोऽशिवा भवेयुः । अतः मोत्क्रमीः, उत्क्रमणं स्वस्थानाच्चलनं तन्माकार्षीः, तवोत्क्रमणेऽस्माकम-माङ्गल्यं भवेदितिभावः ॥१२॥

'या च ते' जो यह अपानरूप तुम्हारा शरीर वाक् वागिन्द्रिय में प्रतिष्ठित है अर्थात् वर्तमान है । और जो व्यानरूप शरीर श्रोत्रेन्द्रिय में प्रतिष्ठित वर्तमान है तथा जो प्राणरूप शरीर चक्षुरिन्द्रिय में प्रतिष्ठित वर्तमान जो समानरूप शरीर मन में प्रतिष्ठित है । श्रुत्यन्तर में कहा है-'जो प्राण है वह चक्षु है जो व्यान है वह श्रोत्र है जो अपान है वह वाणी है जो समान है वह समान है ।' अर्थात् वागादिक प्राणों में मुख्यप्राण की जो नियमन शक्ति है उसी के द्वारा ही वक्तृत्वादिक इतर प्राणों में है। सन्तत सर्वतो व्याप्त तुम उस शरीर को शिव कल्याण करो अर्थात् तुम्हारे शरीर के सामीप्य सहकार से ही वागादिक प्राणों को जो स्वकीय व्यापार में उन्मुखतारूप ही शिवत्व है । अन्यथा वे लोग स्व स्व व्यापार में असमर्थ होने से वागादिक अशिव हो जायेंगे । इसलिये हे प्राण ? तुम इस शरीर से उत्क्रमण मत करो अर्थात् स्व स्थान से चलित मत होओ । तुम्हारे उत्क्रमण करने

से हमलोगों का अमङ्गल होगा ॥१२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां विधेहि न ।१३।

卐 इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥ 卐

परिदृश्यमान समस्त संसार तथा जो कोई भी पदार्थ स्वर्ग प्रभृति लोकों में प्रतिष्ठित है वह सब प्राण के ही वश में है । हे प्राण ? माता जिसप्रकार अपने पुत्रों की रक्षा करती है उसीप्रकार तुम हमारी रक्षा करो एवं प्रकृष्ट बुद्धि को भी प्रदान करो ॥१३॥

इदं सर्वम् इह लोके दृश्यमानं सकलमपि मनुजाद्युपभोगयोग्यं वस्तु, यच्च त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि स्वर्गलोके देवगन्धर्वाद्युपभोगयोग्यं प्रतिष्ठितं वर्तते तत्सर्वं प्राणस्य मुख्यप्राणस्य तव वशे त्वदिच्छाधीनमस्ति । अतः पुत्रानात्मजान् मातेव प्रसूरिवास्मान् वागादीन् रक्षस्व परिपालयस्व, माता पुत्रापराधमगणयित्वैव पुत्रान् रक्षति । तथैव त्वदीयवाक्येऽश्रद्धातः कृतापराधमस्माकमगणयित्वा नः पालयेतिभावः । किंच श्रीः स्वकार्यसम्पादनशक्तिरूपा या अस्माकं श्रियस्ताः तदनुकूलबुद्धिरूपां प्रज्ञाञ्चास्माकं विधेहि कुरुष्व । एवं वागादिभिः परिष्टुतस्य मुख्यप्राणस्य सर्वात्मत्वावधारणद्वारा शरीरादिधारकत्वं श्रेष्ठत्वञ्चावधारितम् । अतः प्रजापतिः प्राण एवात्तेति निश्चितमि

तिभावः ॥१३॥

इति भगवद्रामानन्दाचार्यविरचितेऽथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषद आनन्दभाष्ये द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥

'इदं वशे सर्वमित्यादि' ये सब अर्थात् इस लोक में परिदृश्यमान मनुष्यादिकों से उपभोग के योग्य समस्त पदार्थ तथा जो त्रिदिव में अर्थात् तृतीय दिव स्वर्गलोक में देवगन्धर्वादिकों से उपभोग के योग्य वस्तु प्रतिष्ठित विद्यमान है ये सब पदार्थ प्राण के अर्थात् मुख्यप्राण तुम्हारे वश में है अर्थात् तुम्हारी इच्छा के अधीन है। इसलिये हे मुख्यप्राण ? तुम जिस तरह माता जननी पुत्र की रक्षा करती है उसी तरह तुम हम वागादिक इन्द्रियों का पालन करो। यद्यपि हमलोग तुम्हारे वाक्य में श्रद्धा नहीं करने के कारण कृतापराध हैं तथापि तुम उन अपराधों की गणना न करके कृपया रक्षण करो। और भी स्वकीय कार्य संपादन शक्तिरूप जो श्री तथा तदनुकूल बुद्धिरूपा जो प्रज्ञा वह हमलोगों के लिये करो। इस तरह वागादिकों के द्वारा परितुष्ट प्राण को सर्वात्मत्वाव धारण द्वारा शरीरेन्द्रियाधारकत्व तथा सर्वश्रेष्ठत्व का निश्चय किया गया है। अतः प्रजापति प्राण ही अत्ता हैं यह निश्चित हुआ ॥१३॥

卐 इतिभगवद्रामानन्दाचार्यविरचित अथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषद आनन्दभाष्यप्रकाशे द्वितीयः प्रश्नः समाप्तः ॥२॥ 卐

#卐 अथ तृतीयः प्रश्नः 卐

अथ हैनं कौशल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन् कुत एष प्राणो जायते । कथमायात्यस्मिञ्शरीरे । आत्मानं वा प्रविभज्य कथं वा प्रतितिष्ठते । केनोत्क्रमते । कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥१॥

महर्षि भार्गव के वाद प्रसिद्ध इन महर्षि पिप्पलादजी से अश्वल ऋषि के पुत्र महर्षि कौशल्य ने भी प्रश्न किया हे भगवन् ? यह प्राण कहां से उत्पन्न होता है एवं इस शरीर में कैसे आता है ? तथा अपने आत्मा को कैसे विभक्त करके किसप्रकार से देह में स्थित होता है ? एवं किसप्रकार से शरीर से बाहर निकलता है ? तथा किसप्रकार से बाहर के पदार्थों को या किसप्रकार से देह के अन्दर के पदार्थों को यथार्थ रूपसे धारण करता है यही मेरी जिज्ञासा है ॥१॥

अथ वैदर्भिप्रश्नानन्तरं मुख्यप्राणस्य शरीरादिधारकत्वं श्रेष्ठत्वञ्चावधार्य स्वावयवतया संघातरूपस्यास्य समुदीरितो महिमा नानवधिकातिशयो भवितुमर्हति तादृशो महिमा कस्यचिदपरस्य स्यादसंहतस्येत्यभिप्रायवानश्वलायनपुत्रः कौशल्यः पप्रच्छ पृष्टवान् भगवन्तं पिप्पलादम् । प्रश्नाकारमभिधत्ते-भगवन्नित्यादि । हे भगवन् पूज्य पिप्पलादेत्यर्थः । एष धारकत्वश्रेष्ठत्वा

दिना निर्णीतः प्राणो मुख्यप्राणवायुः कुतः कारणाज्जायते समुत्पद्यते । उत्पन्नश्च अस्मिन् शरीरे कथमायाति किन्निमित्तमस्यागमनं भवति शरीर इत्यर्थः । आगतश्चास्मिन् शरीर आत्मानं प्रविभज्य पृथक् पृथग् विधाय कथं केन प्रकारेण प्रतितिष्ठते प्रतिष्ठितो भवति । केन प्रकारेणोत्क्रमतेऽस्माच्छरीराद् बहिर्याति बाह्यं शरीराद्बहिर्भूतमभिभूतमध्यात्मं शरीरान्तर्गतं चाभिधत्तेऽभितो धारयति । बाह्याभ्यन्तरं च धारणं केन रूपेण कुरुत इत्यर्थः ॥१॥

'अथहैनमित्यादि' अथ वैदर्भी प्रश्न के वाद मुख्यप्राण का शरीरेन्द्रियादि धारकत्व तथा श्रेष्ठत्व का निश्चय करके स्वावयवरूप से संघातस्वरूप इस प्राण का कथित जो माहात्म्य है वह अनवधिकातिशयरूप तो नहीं हो सकता है किन्तु एतादृश महिमा तो असंघातरूप किसी अन्य व्यक्ति का होना चाहिये । एतादृश अभिप्रायवान् अश्वलायन का पुत्र कौशल्य भगवान् पिप्पलादजी से पूछते हैं । प्रश्न के आकार को बतलाते हैं-**'भगवन्नित्यादि'** हे भगवन् पिप्पलादजी महाराज ? सबका धारक तथा श्रेष्ठरूप से निर्णीत मुख्यप्राणवायु किस कारण विशेष से समुत्पद्यमान होता है और उत्पन्न होकर के किस निमित्त से इस शरीर में प्रवेश करता है और

इस शरीर में आकर के किस तरह अपने स्वरूप का पृथक् पृथक् रूपसे विभाजन करके किसप्रकार से प्रतिष्ठित होता है और किसप्रकार से वह इस शरीर से उत्क्रान्त होता है अर्थात् इस शरीर से बाहर चला जाता है तथा शरीर से बहिर्भूत एवं शरीर के अन्तर्गत पदार्थ को धारण करता है अर्थात् बाह्य आभ्यन्तर वस्तुओं का धारण किस रूपसे करता है ॥१॥

तस्मै स होवाच । अतिप्रश्नान् पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसि तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥२॥

जगप्रसिद्ध वे पिप्पलाद महर्षिजी उन कौशल्य ऋषि के प्रति बोले अति रहस्यमय प्रश्नों को पूछते हो अतः ब्रह्मिष्ठ-रहस्य वेत्ता या वेदवेत्ता हो अतः मैं तुम्हारे हेतु रहस्यमय प्रश्नों का जवाव देता हूँ ॥२॥

स पिप्पलाद आचार्यः कौशल्येन मुख्यप्राणोत्पत्त्यादिकं पृष्टः सन् तस्मै एवं पृष्टवते कौशल्यायोवाच प्रोक्तवान् । हशब्दो वितर्के । अति प्रश्नान् कबन्धिवैदर्भिप्रश्नानतिक्रम्य वर्तमान प्रश्नान् पृच्छसि । तदीयप्रश्ने प्राणस्यापि कारणीभूतः परमात्मा श्रीरामो रहस्यार्थो विषयो नासीत् । तव तु प्रश्ना रहस्यार्थ मयाः इत्यतिप्रश्ना इतिभावः । यस्मात्त्वं रहस्यभूतार्थ प्रष्टाऽतो ब्रह्मिष्ठोऽसि ब्रह्मविदिव प्रतीयसे । तस्माद् योग्यत्वात् ते तुभ्यमहं त्वत्पृष्टं ब्रवीमि प्रतिवच्मि ।

भव श्रवणपरस्त्वमितिभावः ॥२॥

'तस्मै सहेत्यादि' उसने आचार्य पिप्पलादजी को जब कौशल्य ने मुख्यप्राण के उत्पत्यादिक विषय में अतिगूढ प्रश्न किया तब प्रश्न करने के वाद उन आचार्यजी ने प्रश्नकर्ता कौशल्य को कहा । यहां ह शब्द वितर्क अर्थ में है । हे कौशल्य ? तुम अतिप्रश्न-बहुत बडा प्रश्न पूछते हो, अर्थात् कबन्धी से पूछा गया जो प्रश्न उसका अतिक्रमण करके वर्तमान यह तुम्हारा प्रश्न है एतादृश विलक्षण प्रश्न तुम पूछ रहे हो । अभिप्राय यह है कि कबन्धी वैदर्भी के प्रश्न में मुख्यप्राण का कारण परमात्मा भगवान् श्रीरामजी जो रहस्य अर्थ हैं वे विषय नहीं हुए थे और तुम्हारा यह प्रश्न रहस्यार्थमय है इसलिये तुम्हारा यह अतिप्रश्न है । जिसलिये तुम रहस्य भूत अर्थ को पूछने वाले हो इसलिये ब्रह्मिष्ट हो । अतः योग्य अधिकारी होने से तुमने जो पूछा है उसका मैं समुचित उत्तर देता हूँ, तुम सावधान होकर मेरे वचन का श्रवण करो ॥२॥

आत्मन एवैष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्य-स्मिञ्शरीरे ॥३॥

सर्वजीववर्त्ती यह प्राण परब्रह्म से ही उत्पन्न होता है जिसप्रकार पुरुष में उसकी छाया है या जिसप्रकार जीवात्मा में यह मन विना प्रयास के ही समाश्रित है उसीप्रकार से परब्रह्म से सम्पर्कित प्राण भी इस शरीर में आता है ॥३॥

कुतो जायत इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह-आत्मनः परमात्मन एव परमकारणादेष मुख्यप्राणो वर्णितमहिमाऽपि जायतं उत्पद्यते । कथमायातीतिद्वितीय प्रश्नस्योत्तरं वक्तुं दृष्टान्तं प्रदर्शयति पूर्वं यथैषेति । पुरुषे करचरणाद्यवयववति जीवे छाया एषा दृश्यमाना आतता पुरुषगमनागमनप्रयुक्तगमनाऽगमनवती भवति तथैव एतस्मिन् जीव एतत्प्राणतत्त्वमाततं संबद्धम् । मनोकृतेन मनसा कृतं मनोकृतम् । हश्परत्वाऽभावेऽपि छान्दसमुत्त्वम् । मनोजन्यसंकल्पाधीनं हि कर्म पुण्यपापरूपं मनोकृतमित्युक्तम् । तथा च पुण्यपापात्मककर्मरूपनिमित्तेन जीवस्य कर्मफलभोगाय प्राणतत्त्वं जीवेन सहैवास्मिन् शरीर आयाति प्रविशतीत्यर्थः ॥३॥

यह मुख्यप्राण किससे उत्पन्न होता है एतादृश जो प्रथम प्रश्न है उस प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं- **'आत्मनः'** इत्यादि । यह मुख्यप्राण परमकारण परमात्मा श्रीरामजी से उत्पन्न होता है जिसका माहात्म्य पूर्व में वर्णन किया गया है । यह प्रथम प्रश्न का उत्तर हुआ ।

किस तरह वह मुख्यप्राण इस शरीर में आता है इत्याकारक द्वितीय प्रश्न का उत्तर देने के लिये पहले एक दृष्टान्त का प्रदर्शन करते हैं-'**यथैषा**' इत्यादि । जिस तरह पुरुष में अर्थात् कर चरणादि अवयंववान् जीव में परिदृश्यमान यह छाया आतत है अर्थात् पुरुष के गमनागमन प्रयुक्त गमनागमन वाली छाया होती है उसी तरह इस जीव में वह मुख्य प्राणतत्व आतत संबद्ध है। मनोकृत मनसाकृतमिति मनोकृतम् । यहां हश प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण के अभाव में भी छान्दसत्वात् उत्व हुआ है। मनोजनित जो संकल्प पुण्य अपुण्यरूप कर्म है उसे मनोकृत कहते हैं । तब यह अर्थ होता है कि शुभाशुभ कर्म निमित्त से जीव को कर्मफल का भोग करने के लिये यह प्राणतत्व जीव के साथ इस शरीर में प्रवेश करता है ।

कोई व्यक्ति इसप्रकार से अर्थ करते हैं-जिसप्रकार इस लोक में कर चरणादिमान पुरुष लक्षण निमित्त से यह छाया नैमित्तिकी उत्पन्ना होती है उसी तरह इस परब्रह्म में छाया स्थानापन्न अनृतमिथ्या प्राणरूप तत्व सत्यपुरुष में आतत है समर्पित है । ऐसा अर्थ करते हैं। एतादृश अर्थ करनेवाले व्यक्ति को पूछना चाहिये कि प्राण में जो आप मिथ्यात्व कहते हैं उसका क्या कारण

है ? नहीं कहें कि ब्रह्मभिन्न यह संपूर्ण जगत् अपारमार्थिक है तब जगत् के अन्तर्गत जो प्राण है वह भी मिथ्या है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म भिन्न सकल जगत् को मिथ्या कहते हैं तब हे भगवन् ? किस वस्तु को जान लेने पर यह सब पदार्थ विज्ञान हो जाता है। इसप्रकार एक विज्ञान से जो सब विज्ञान की प्रतिज्ञा है उसका भङ्ग हो जायगा अर्थात् तादृश प्रतिज्ञा से विरोध होगा। संपूर्ण जगत् के मिथ्या होने पर भी ब्रह्म का ज्ञान होने पर सब पदार्थ ज्ञात होगा तब तो सत्य तथा मिथ्या में एकत्व हो जायगा अथवा ब्रह्म में भी मिथ्यात्व हो जायगा। नहीं कहें कि ब्रह्म का सत्य ज्ञान होने पर ब्रह्म व्यतिरिक्त सकल पदार्थ मिथ्यात्व रूप से ही ज्ञात होगा तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि तब तो एक का ज्ञान होने से तदितर मिथ्यारूप से ज्ञात होगा इसप्रकार से मिथ्यात्व का अध्याहार रूप ही दोष होगा। तथा एक विज्ञान तथा सर्व विज्ञान में विरूपता होगी। और ज्ञाता का अभाव होने से सर्व विज्ञान पद का सर्वविज्ञान की निवृत्ति में लक्षणा करने की भी आपत्ति होगी। नहीं कहें कि अधिष्ठानरूप ब्रह्म का ज्ञान होने से उसमें अध्यस्त जो प्रपञ्च है वह भी तो विज्ञात हो ही जायगा (जिसप्रकार इदं रूपसे शुक्ति का ज्ञान

होने से तदध्यस्त रजत का ज्ञान हो जाता है ।) ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कहने पर भी प्रपञ्च सत्यता दुर्निवार हो जाती है । तथाहि यदि जगत् को उपादान रूपसे ब्रह्म का ग्रहण करें अर्थात् जगत् का उपादान ब्रह्म को मानें तब तो प्रपञ्च मात्र के प्रति ब्रह्म उपादान है इस कथन का भङ्ग हो जाता है इसलिये प्रपञ्च का उपादान रूपसे ब्रह्म का आश्रय करना ही युक्त होगा आध्यासिक प्रपञ्च का । परन्तु यह जो आश्रयाश्रयि भाव होता है वह सत् पदार्थ का ही होता है ऐसा ही लोक वेद में प्रसिद्ध है जैसे कुण्ड तथा वदर का होता है इसलिये सत् प्रपञ्च तथा सत् ब्रह्म में ही आधाराधेय भाव होगा असत् द्वय में अथवा एक सत् एक असत् में नहीं होता है अतः प्रपञ्च के सत्यत्व को कोई नहीं रोक सकता है । यदि कदाचित् माया शवलित को उपादान कारण माने शुद्ध ब्रह्म को उपादान कारण न मानें तब तो-**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** इत्यादि अनेक श्रुतियों का विरोध होगा । श्रुति तो अध्यस्त माया शबलित ब्रह्म को ही उपादान कारण कहती है इत्यादि कथन तो बालक्रीडा के समान होता है । श्रीरामानन्द भाष्य में यति सार्वभौम जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने कहा है । तथाहि-'इससे जिससे कोई पर

नहीं है अपर नहीं है' इत्यादि श्रुति में तथा 'क्षेत्रज्ञ भी मुझे जानो' इत्यादि गीतादि स्मृति में 'प्रपञ्च मिथ्यात्व पूर्वक परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म ही प्रतिपादित होता है' इत्यादि मायावादी का जो मत है वह सब प्रत्याख्यात होता है क्योंकि मायिकों के मत में दुराग्रह ही साधन है श्रुति स्मृति तर्क साधन नहीं है। और एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की जो प्रतिज्ञा है उसका भी भङ्ग प्रसङ्ग होता है क्योंकि मायिकों के मत में ब्रह्म व्यतिरिक्त तो कोई भी पदार्थ सर्व पदवाच्य नहीं है यद्विषयक ज्ञान ब्रह्मज्ञान से नियत हो। नहीं कहें कि ब्रह्मस्वरूप विज्ञात होने पर ब्रह्म में अध्यस्त जो प्रपञ्च समुदाय है वह तो ज्ञात हो ही गया क्योंकि अधिष्ठान ही तो आरोपित पदार्थ का स्वरूप है आरोपित पदार्थ का अधिष्ठानातिरिक्त तो कोई स्वरूप नहीं है। ब्रह्म से भिन्न कल्पना मात्र से लब्ध सत्ता जिसका है एतादृश वस्तु स्वरूप का निर्देश करना अशक्य है। यह भी ठीक नहीं क्योंकि विकल्पासह होने से तथाहि यह जो आध्यासिक प्रपञ्च है वह स्वकीय उपादान रूपसे ब्रह्म को आश्रय करता है अथवा नहीं। प्रथमपक्ष में क्या स्वरूप सत्ता से ब्रह्म को आश्रित करता है अथवा असत् रूपसे आश्रय करता है। यदि कहें कि प्रपञ्च स्वरूप सत्ता से आश्रय करता है तब तो

प्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध हो गया। अथ यदि-**'असत्तया'** इस अन्तिम पक्ष का स्वीकार करें तो यह भी उपहासास्पद ही होता है क्योंकि यह जो आश्रयाश्रयिभाव अर्थात् आधाराधेयभाव होता है वह सत् पदार्थद्वय का होता है जैसे कुण्डवदर में ऐसा ही लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध है नतु सत् असत् में आधाराधेयभाव होता है जैसे भूतल तथा बन्ध्या पुत्र में। यदि आध्यासिक प्रपञ्च ब्रह्म को उपादान नहीं बनाता है इस द्वितीयपक्ष को मानें तब तो सर्वपदार्थ के प्रति ब्रह्म उपादान है एतादृश जो ब्रह्मोपादानवाद है उसे आपने जलाञ्जलि दे दिया। यदि कहें कि शुद्ध ब्रह्म तो जगत् का उपादानकारण नहीं है तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि तब तो **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** इत्यादि श्रुति का विरोध होगा। यदि अध्यस्त ब्रह्म को उपादानकारण कहें तो किस विलक्षण अर्थ को सिद्ध किया भगवती श्रुति ने। अतः प्रपञ्च आध्यासिक नहीं है किन्तु प्रमाणभूत श्रुति स्मृति से सिद्ध होने के कारण यह प्रपञ्च सर्वथा सत्य है। यह श्रीरामानन्दभाष्य ब्र.सू. १।१।१। का है।

और भी देखिये ब्रह्म से अभिन्न जो यह जगत् है उसे आपने किस तरह ज़ाना कि अपारमार्थिक है ? नहीं कहें कि 'यह जगत् अपारमार्थिक है व्यावर्तमान होने से सूत्र

ग्रथित पुष्प के समान' यह अनुमान ही प्रमाण है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म भी अनृत वस्तुओं से व्यावर्तमान है तो ब्रह्म में हेतु है और साध्य नहीं है तो वह्नि साध्यक प्रमेयत्व हेतु के समान उक्तानुमान व्यभिचरित है। और इस अनुमान में वाधितत्व उपाधि है जहां जहां अपारमार्थिकत्व है उसमें बाधितत्व है और हेतु ब्रह्म में है तो उसमें बाधितत्व नहीं है इसप्रकार साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक होने से **'धूमवान् वह्नेः'** इस स्थल में आर्द्रेन्धन संयोग के समान प्रकृत में बाधितत्व उपाधि है और सोपाधिक होने से प्रकृतानुमान में व्याप्यत्वासिद्ध दोष है। और यह व्यावर्तमानत्व का अर्थ है अभाव का प्रतियोगी एवं अपारमार्थिकत्व है कादाचित्क आस्तिता तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि घटादिक पदार्थों में सिद्ध साधन होता है। घट में अभाव प्रतियोगित्व तथा कदाचित् अस्तिता सिद्ध ही है। नहीं कहें कि व्यावर्तमानता तो पूर्वोक्तरूप ही है किन्तु अपारमार्थिकत्व का अर्थ है बाधितत्व तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि विकल्पासह होने से। तथाहि-**'नास्ति'** इत्याकारक बुद्धि विषयता को बाध्यत्व कहते हैं अथवा त्रैकालिक निषेध विषयता को बाध्यत्व कहते हैं। इसमें प्रथमपक्ष ठीक

नहीं है क्योंकि जिस समय में जो पदार्थ नहीं है उस समय में उस पदार्थ में नास्ति इत्याकारक बुद्धि विषयता तथा अभाव प्रतियोगित्व तो सिद्ध ही है अतः सिद्ध साधन दोष होता है । नवा अन्तिमपक्ष भी ठीक है क्योंकि विकल्पासह होने से क्या त्रैकालिक अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व हेतुभूत अर्थात् कारणीभूताभाव प्रतियोगित्व है अथवा कादाचित्काभाव प्रतियोगित्वरूप है तो इसमें प्रथमपक्ष असिद्ध है । द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि त्रैकालिक सत्ता विशिष्ट जगत् कादाचित्क सत्ता वत्व हेतु से ब्रह्मवत् यह हेतु सत्प्रतिपक्षित है । यदि व्यावर्तमानत्व शब्द का अर्थ करें कि सदनुविद्ध प्रतीति सामान्य का अविषय अथवा सदनुविद्ध प्रतीति विषय का अविषय यह अर्थ है । उसमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है क्योंकि 'घट है पट है' इत्यादि प्रतीति को घटपटादि विषयकत्व नहीं मानकर के केवल सद्विषयता को मानने से अनेक प्रकारक भेद प्रत्यक्ष तथा तद्व्यवहार अगृहीत ग्रहण अन्धबधिरादि की व्यवस्था एवं प्रत्यक्ष करण में भेदादि व्यवस्था विलोप हो जायगा । तब घट को देखकर घटादि प्रयोजन पुरुष की प्रवृत्ति होती है तथा पटार्थी की जो निवृत्ति होती है उन सबकी निवृत्ति हो जायगी । और घटोस्ति इत्यादि प्रतीति में एतादृश

प्रतीत्य विषयता तो सब में समान है तब पट शब्द के समान घट शब्द का भी प्रयोग नहीं होगा। तब तो सर्वत्र अस्ति इतना ही कहना चाहिये। किन्तु घटोस्ति यह नहीं कहना चाहिये। द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि घटोस्ति इत्याकारक प्रतीति का विषय न होने पर भी पट की अन्यत्र सत्ता में कोई भी बाधक नहीं है। अन्यथा ब्रह्म को भी घटोस्ति इत्याकारक प्रतीति का अविषय होने से ब्रह्म में भी मिथ्यात्व हो जायगा। नहीं कहें कि उक्त प्रतीति सद्रूप से उक्त प्रतीति विषयता तो है तो यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'घट चलता है' 'पट चलता है' 'घट महान् है' 'पट महान् है' इत्यादि स्थल में गुण क्रिया जिस तरह घट के धर्मरूप से भासिता है उसी तरह घटोस्ति इस प्रतीति घट के धर्मरूप से ही सत्ता का भान होता है न तु विशेष्य रूपसे सत्ता का भान होता है। अर्थात् ब्रह्म तो घट का कर्म नहीं है तो घटोस्ति इस प्रतीति में ब्रह्म का सद्रूप से भान नहीं होता है। और ब्रह्म तो शास्त्रैक समधि गम्य है अतः घटोस्ति इत्याकारक प्रतीति विषयता का ब्रह्म में अभाव है। अन्यथा शास्त्र प्राप्त प्रापक होने से अनुवाद कहा जायगा विधायक नहीं होगा।

अगर ऐसा कहें कि प्रथमतः प्रत्यक्ष गृहीत वस्तु

का ही पश्चात् शास्त्र से बोध कराया जाता है, यह भी आपका कहना ठीक नहीं विकल्पासह होने से तथाहि उक्त जो प्रत्यक्ष है **'घटोस्ति पटोस्ति'** इत्याकारक वह ब्रह्मरूप है अथवा ब्रह्मज्ञान रूप है । इसमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म के नित्य होने से उक्त प्रत्यक्ष से पहले यह कथन असंगत होता है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञान की उत्पादक सामग्री का अभाव है । और भी देखिये यह जो व्यावर्तमानत्व हेतु है वह स्वयं पारमार्थिक है अथवा अपारमार्थिक है । इसमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है क्योंकि हेतु भी पारमार्थिक हुआ तब तो द्वैतापत्ति होगी । द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकिं जिस तरह वाष्प वह्नि का साधक नहीं है जैसे धूम बुद्धि से परिगृहीत वाष्प को हेतुतया ग्रहण करने पर साध्य की सिद्धि नहीं होती है इसी तरह मिथ्यात्व का असाधक व्यावर्तमानत्व को हेतु बनाने से व्याघातदोष होगा ।

प्रश्न-जिस तरह घट का नाशक जो मुद्गरादिक है उसका विनाश हो जाने पर भी पूर्व विनष्ट घटादिक का विनाश ही देखने में आता है घटोत्पत्ति का अदर्शन होता है तो जिस तरह नाशक मुद्गरादिक में अवि नाशित्व अपेक्षित नहीं है उसी तरह प्रकृत में भी साधन

निष्ठ पारमार्थिकत्व अपेक्षित नहीं है पर तद् वाधित वस्तु में मिथ्यात्व के होने में कोई बाधक नहीं है।

उत्तर-कारक हेतु तथा ज्ञापक हेतु में विषयता है। कारक हेतु नाशक है अतः कारक मुद्गरादिरूप कारण के विनाश होने पर भी मुद्गर नाश्य पटादिक पदार्थ का नाश ही होता है क्योंकि लोक में ऐसा देखने में आता है। ज्ञापक तो बाधक होता है अतः ज्ञापक के बाधित होने से ज्ञापक बाध्य में सत्यत्व हो जायगा। किसी ने चत्वर में घटाभाव का कथन किया वहां घटाभाव की अस्तिता का बाध होने पर घट का सत्व हो जाता है। एवं साध्य पारमार्थिक है कि अपारमार्थिक है? प्रथम पक्ष में द्वैतापत्ति होगी। द्वितीयपक्ष में प्रपञ्च में सत्यत्व हो जायगा।

और भी देखिये-मिथ्यात्व साधक अनुमान में पक्ष अप्रतीत है अथवा प्रतीत है। इसमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है क्योंकि आश्रयासिद्ध दोष होगा। द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सद्रूप से प्रपञ्च के सिद्ध होने से उसमें मिथ्यात्व को सिद्ध करने में धर्मिग्राहक प्रमाण से बाध होगा। और भी देखिये पुरुष की जो छाया है वह प्रमाण से गृहीत होती है स्वाधीन गमनागमन का अभाव तथा पराधीन गमनागमन

की अभिव्यक्ति होने से छाया का जो ग्रहण है उसे अनृतत्व का अभिव्यंजकत्व नहीं है। इसलिये प्राणतत्व के अनृतत्व प्रतिपादन में महर्षि पिप्पलाद का अभिप्राय नहीं है। अन्यथा पुरुष इत्याकारक जो कथन है वह असमञ्जस हो जायगा। यदि यहां अनृतत्व विवक्षित होता तब तो **यथैषानृतम्** यह कहते अथवा **'यथैषा छाया'** ऐसा ही कहना उचित होता। और यदि छाया में अनृतत्व हो तो प्राणतत्व में अनृतत्व का कथन घटित होता भी। परन्तु छाया में अनृतत्व नहीं है क्योंकि **'तमः ससर्ज भगवान्' 'यस्य तमः शरीरम्'** छाया को भगवान् ने बनाया तथा 'तम जिनका शरीर है' तथा छाया का ग्रहण हो जाने पर मारुति महावीरजी ने सोचा इत्यादि वचनों से प्रतिपादित तम की सृष्टि परमेश्वर का शरीर और छाया का ग्रहण अनुपपन्न हो जायगा ॥३॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते। एतान्ग्रामानेतान् ग्रमानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते ॥४॥

जैसे चक्रवर्ती राजा ही अधिकृत छोटे राजा या सेवकों को इन इन ग्रामों का तुमलोग अधिपति होकर प्रशासन करो इसप्रकार भिन्न भिन्न रूपसे नियत करता है इसीप्रकार से यह प्रधान प्राण अन्य अपने अंशरूप प्राण अपान प्रभृति को पृथक् पृथक् रूपसे संस्थापित करता है ॥४॥

आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठत इति तृतीयप्रश्नस्य प्रतिवचनं दातुमुपक्रमते यथा सम्राडिति। यथा येन प्रकारेण सम्राट् चक्रवर्ती महाराजोऽधिकृतान् तत्तत्कर्मविभागे नियुक्तानधिकारिपुरुषान् त्वमेतानेतावत्संख्याकान् ग्रामानधितिष्ठस्व नियमय, त्वञ्चैतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेति-स्वयं विनियुङ्क्ते, तेषां नियुक्तिं तेषु ग्रामेषु करोति। एवमेव अनयैव रीत्या एष पूर्वोक्तो मुख्यप्राण इतरान् स्ववशे स्थितान् वागादीन् प्राणान् पृथक् पृथक् स्वांशभूतप्राणापानसमानादिद्वारेण सन्निधत्तेऽधितिष्ठति। अत्र ग्रामस्थानीया अमुख्याः प्राणा वागादयः। अधिकारिपुरुषस्थानीयाः प्राणापानव्यानसमानोदाना मुख्यप्राणांशाः। मुख्यप्राणस्तु सम्राट् स्थानीय इति विवेकः। अधिकारिपुरुषाणामधिकारो यथा परस्परं संकीर्णो न भवति तथा प्राणापानादीनामपि न सङ्कीर्णोऽधिकार इति द्विरुक्तेन पृथक् पदेन सूच्यते ॥४॥

आत्मा अपने को प्रविभक्त करके किसप्रकार से प्रतिष्ठित होता है इस तृतीय प्रश्न का प्रतिवचन उत्तर देने के लिये उपक्रम करते हैं-'**यथा सम्राडित्यादि**' जिसप्रकार सम्राट् चक्रवर्ती राजा अधिकृत तत्तत्कर्म विभाग से नियुक्त अधिकारी पुरुष को तुम अमुक ग्राम

का नि यन्त्रण करो और तुम अमुक अमुक ग्राम के ऊपर अपना नियन्त्रण रक्खो इसप्रकार से स्वयमेव कार्यकरों को विनियुक्त करता है अर्थात् उनकी नियुक्ति तत्तत् ग्रामों में स्वयं करता है इसप्रकार यह पूर्वोक्त मुख्यप्राण इतर अपने अधिकार में अवस्थित वागादिक प्राणों को पृथक् पृथक् स्व का अंशभूत प्राण अपानादि द्वारा संस्थित होता है। यहां ग्राम स्थानीय अमुख्य प्राण वागा दिक हैं अधिकारी पुरुष स्थानापन्न मुख्यप्राण का अंश भूत प्राणापानादिक हैं। और सम्राट् के स्थानापन्न मुख्य प्राण है ऐसे विभाग को जानना चाहिये। अधिकारी पुरुषों का अधिकार जिस तरह परस्पर संकीर्ण न होवे, उसी तरह प्राणापानादिकों का अधिकार परस्पर संकीर्ण न हो इस बात को द्विरुक्त पृथक् पद से सूचित होता है ॥४॥

पायूपस्थे अपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५॥

यह मुख्यप्राण मलद्वार तथा मूत्रद्वार में अपान वायु को नियत करता है स्वयं मुख्यप्राण मुख तथा नाक से संचरित होते हुये आंख एवं कान में संस्थित होता है और देह के मध्यभाग में समान वायु रहता है यही समान वायु ही इस प्राणरूप अग्नि में अर्पित अन्न को

शरीर के सभी भागों में समान रूपसे पहुँचाता है अतः जठराग्नि से सात ज्वालाएं प्रकट होती हैं ॥५॥

प्राणस्यात्मविभागेन कुत्राधिष्ठातृत्वमिति विशेषतो दर्शयति-पायूपस्थे । पायुश्चोपस्थश्च पायूपस्थं गुदं मूत्रेन्द्रियञ्च । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । तस्मिन् मूत्र पुरीषापकर्षणाय अपानमपानात्मकं स्वात्मभेदं प्रकल्प्य तद्रूपेण पायूपस्थे ग्रामस्थानीयेऽधितिष्ठति । चक्षुश्च श्रोत्रञ्च चक्षुः श्रोत्रं तस्मिन् ग्रामस्थानीये मुखनासि काभ्यां निर्गमनशीलः प्राणः सम्राट् स्थानीयः स्वय मेव प्रातिष्ठतेऽधिष्ठाता भवतीत्यर्थः । मध्ये तु प्राणा पानयोः स्थानस्य मध्यभागे नाभ्यां समानः सन् समान रूपमात्मभेदं कृत्वाधिष्ठतीत्यर्थः । एष समानो हि यस्माद् हुतं भुक्तं जाठराग्नौ प्रक्षिप्तमेतद् दृश्यमानमन्न मन्नफलमूलजलादिकं सर्वं वस्तु समं नयति तत्तद्धातु निर्माणाय यथायोग्यं विभजति अतः समान इत्युच्यत इतिभावः । तस्मात् समानादेव वायोरशितपीतान्नादि द्वाराऽभिदीप्तस्य जाठराग्नेर्हृदयदेशं प्राप्तस्य ताः प्रसिद्धा अस्माभिर्ज्ञायमानाः श्रवणदर्शनादिरूपाः सप्तसंख्याका अर्चिषो ज्वालाः तद्वत्प्रकाशिका इत्येतद् । भवन्ति प्रादुर्भूता भवन्ति । ताश्च श्रवणद्वयं चक्षुर्द्वयं घ्राणद्वय मास्यञ्चैकमिति सप्तसंख्याः शीर्षण्या अर्चिषः शब्दादि

विषयप्रकाशकत्वाच्छ्रवणादिष्वर्चिष्ट्वमारोपितम् । अन्नरसमिन्द्रियाणामाप्यायनं भवत्यतो भवन्तीति शब्देन प्रादुर्भूतिः कथितेत्यनुसंधेयम् ॥५॥

आत्मा स्वकीय स्वरूप का विभाग करके प्राण को किसके प्रति अधिष्ठातृत्व है इस बात को विशेष करके बतलाते हैं-'**पायूपस्थे**' इत्यादि । पायु तथा उपस्थ में अर्थात् गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय में अपान को बैठाया । **पायुश्च उपस्थं चेति पायूपस्थम्** इस तरह समास के उत्तरकाल में '**द्वन्द्वश्च प्राणि तूर्मसेनांगानाम्**' इस पाणिनीय सूत्र से प्राणी के अंग होने के कारण पायूपस्थ में एकवद्भाव किया गया है । उस पायूपस्थ में मूत्र तथा पुरीष का अपकर्षण करने के लिये अपान नामक मुख्य के आत्मभेद की प्रकल्पना करके अपान वायु को बैठाया । इसप्रकार ग्राम स्थानापन्न पायूपस्थ में अधिकारी स्थापानापन्न अपान वायु को राज स्थानीय मुख्यप्राण ने बैठाया-'**चक्षुश्च श्रोत्रं चेति चक्षुः श्रोत्रम्**' यहां भी पूर्ववत् एकवद्भाव है ऐसा समझें । उस ग्राम स्थानीय चक्षु श्रोत्र में मुख नासिका से निर्गमनशील सम्राट् स्थानीय मुख्यप्राण स्वयमेव प्रतिष्ठित है । मध्य में प्राणापान के मध्यभाग में अर्थात् नाभि स्थान में समान रूपसे अपने स्वरूप का आत्मभेद करके अधिष्ठित होता

है। यह समान वायु जिसलिये हुत अर्थात् भुक्त जाठरानल में प्रक्षिप्त इस दृश्यमान अन्नफल जलादिक सर्व पदार्थ को समान नयन करता है अर्थात् तत्तत् धातु का निर्माण करने के लिये यथायोग्य विभाजन करता है, अतः इसे समान कहते हैं। उस समान वायु से ही भुक्त तथा पीत अन्न जलादि द्वारा प्रदीप्त जो जाठरानल है उससे हृदय प्रदेश में प्राप्त अन्नादिक का वे प्रसिद्ध हमलोगों से ज्ञायमान श्रवण दर्शनादिरूप सात अर्चिष ज्वालायें जो कि अतिप्रकाशी हैं वे प्रादुर्भूत होते हैं। वे दो कान दो चक्षु दो घ्राण एक आस्य-मुख ये सात मस्तक स्थित ज्वालायें शब्दादि विषय के प्रकाशक होने से श्रवणादिक में प्रकाश स्वरूपता का आरोप किया गया है। अन्नका रस इन्द्रियों का पोषक होता है इसलिये भवन्ति इस शब्द से इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है ऐसा कहा गया है ऐसा अनुसंधान करना चाहिये ॥५॥

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्त्राणि भवन्ति तासु व्यानश्चरति ॥६॥

यह जीवात्मा नियत रूपसे हृदय प्रदेश में निवास करता है।

इसी हृदय में नाडियों का मूल स्वरूप एक सौ प्रधान नाडियां हैं उनमें से एक एक नाडी में सौ सौ शाखायें हैं तथा प्रत्येक नाडी की शाखा बहत्तर बहत्तर हजार शाखा वाली होती हैं उन्हीं बहत्तर करोड नाडियों में व्यान नामक वायु घूमता है ॥६॥

मुख्यप्राणो व्यानात्मकं स्वात्मभेदं प्रकल्प्य सर्वासु नाडीषु स्थितः सन्नधितिष्ठतीति प्रतिपादयितुं तासां नाडीनां प्रदेशं दर्शयति प्रथमं हृदि ह्येष इति । एष आत्मा जीवात्मा हृदि हृदये पुण्डरीकाकारहृदयाकाशे वर्तते । अत्र हृदयप्रदेशे नाडीनामेकशतं विद्यत इति शेषः । प्रधानभूता नाड्य एकाधिकशतसंख्याका हृदय प्रदेशे वर्तन्त इत्यर्थः । तासां प्रधाननाडीनां मध्य एकैकस्याः नाड्यां शतं शतं प्रभेदाः सन्ति । प्रधान नाड्या एकैकस्याः प्रभेदाः शाखानाडीरूपाः शतसंख्यान्विताः सन्तीत्यर्थः । तेन शाखानाड्य एकशताधिकदशसहस्रसंख्याका भवन्तीतिभावः । द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति । शाखानाडीनामुक्तसंख्याकानां मध्य एकैकस्याः शाखानाड्या अवान्तरप्रभेदाः प्रतिशाखानाडीरूपा द्विसहस्राधिकसप्ततिसहस्रसंख्याकाः सन्तीत्यर्थः । ततश्च मूलनाड्यः शाखानाड्यः प्रतिशाखानाड्यश्च सर्वा मिलित्वा द्वासप्ततिकोटयो द्वासप्ततिलक्षाणि दशसहस्राणि शतद्वयमेकं च भवन्तीतिभावः । शतंशतमितिवीप्सा प्रत्येकं प्रधा

ननाडीसम्बन्धार्था । द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिरितिवीप्सा प्रत्येकं शाखानाडीसम्बन्धार्था । तासु प्रोक्तसंख्यावतीषु मूलशाखाप्रतिशाखानाडीषु व्यानश्चरति । मुख्यप्राणो व्यानरूपं स्वात्मभेदं कृत्वा तेनरूपेण तासु त्रिविधासु नाडीषु भ्रमतीत्यर्थः ॥६॥

मुख्यप्राण स्वात्म व्यानात्मक स्वात्मभेद की कल्पना करके सभी नाडियों में अवस्थित रहता है इस विषय को बतलाने के लिये उन नाडियों के प्रदेश को बतलाते हैं-'**हृदि ह्येष**' इत्यादि । यह जीवात्मा हृदय में अर्थात् कमलाकार हृदयाकाश में रहता है । इस हृदय प्रदेश में एक सौ एक मुख्य नाडियां होती हैं । उन प्रधान नाडियों के मध्य में एक एक नाडियों का एक एक सौ प्रभेद होता है । अर्थात् एक एक प्रधान नाडी की सौ सौ शाखा नाडी होती है । इसलिये शाखा नाडी एकाधिक दश सहस्र संख्या वाली हो जाती है । '**द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिरिति**' बहत्तर बहत्तर हजार शाखा नाडी का प्रभेद होता है अर्थात् उक्त संख्यक शाखा नाडी के मध्य में एक एक शाखा नाडी का बहत्तर हजार संख्या होती है तब मूल नाडी शाखा नाडी और प्रतिशाखा नाडी ये सब मिलकर के बहत्तर करोड बहत्तर लाख दश हजार दो सौ एक होता है । शतं शतं इसप्रकारक जो वीप्सा है

उसका प्रत्येक प्रधान नाडी के साथ सम्बन्धार्थक है और द्वा सप्ततिर्द्वा सप्तति यह जो वीप्सा है वह प्रत्येक शाखा नाडी के सम्बन्धार्थक है। इन कथित संख्यावर्ती मूल शाखा प्रतिशाखा नाडियों में व्यान वायु चलता है। अर्थात् मुख्यप्राण व्यानरूप स्वकीयभेद की कल्पना करके उस व्यानरूप से तीनों प्रकार की नाडियों में अनवरत भ्रमण करता है जिससे शरीरधारणरूप कार्य होता है। अन्यथा शरीर लक्षण कार्य असंभवित हो जाता है। जिस देह के अंश से व्यान का चलना बन्द हो जाता है उस अंश में पक्षाघातादि रोग हो जाता है ॥६॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

अनन्तर उक्त नाडियों से भिन्न प्रधान सुषुम्ना नाडी के द्वारा ऊर्ध्व मुहवाला उदान वायु ऊपर की ओर संचरण करता है तथा पुण्यकर्म के फलस्वरूप पुण्य लोक स्वर्ग में ले जाता है और पापकर्म के फलस्वरूप पाप-नरक प्रभृति लोक में ले जाता है पाप तथा पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मनुष्यलोक में ले जाता है ॥७॥

आत्मानं वा प्रविभज्य कथमिति प्रश्नस्याव शिष्टांशं प्रतिवचनं केनोत्क्रमत इति प्रश्नस्य प्रतिवच नेन सहैव दातुमुपक्रमत अथेति। **अनन्तरं व्यानसंचार प्रदेशनिरूपणानन्तरमित्यर्थः। एकया सुषुम्नाभिधान**